

सम्पादकीय

अब एक साथी और गया...

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी से प्राप्त वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में कंधे से कंधा मिलाकर चलनेवाले अनेक साथी एक-एक कर साथ छोड़कर चले गये। सबसे पहले पिता तुल्य विद्वान पण्डित खीमचन्दभाई गये, फिर क्रमशः अजातशत्रु पण्डित बाबूभाई मेहता, अपने में ही मगन लालचंद भाई और लौहपुरुष नेमीचन्दजी पाटनी गये। ये सब तो मुझसे बुजुर्ग विद्वान थे; पर अब समवयस्क साथियों ने भी साथ छोड़ना आरंभ कर दिया है, जिनमें सबसे पहला नम्बर लिया है निरन्तर सजग रहनेवाले श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा ने।

वृद्धावस्था में भी जवानी के जोश से भरे, वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में संपूर्णतः समर्पित, कर्तव्यनिष्ठ कार्यकर्ता पण्डित पूनमचन्दजी छाबड़ा की कसीदा की टोपी के तले उस रौबदार मूँछों वाले व्यक्तित्व को कौन भूल सकता है; जो तत्त्वप्रचार के छोटे-बड़े हर कार्यक्रम में सदा उपस्थित रहते थे।

उनकी शोकसभा में प्रस्तुत की गई निम्नांकित पंक्तियाँ उनके व्यक्तित्व को प्रकाशित करने में पूर्णतः समर्थ हैं -

जोश भरे ओजस्वी वक्ता, सरल हृदय मर्यादावान।

वाणी में नित तत्त्वज्ञान था, मन में वीतराग-विज्ञान।।

टोडरमल स्मारक रहकर, सदा तत्त्व का किया प्रचार।

सत्पथ दिखलाया समाज को, जिनवाणी का ले आधार।।

आज भी जब मैं टोडरमल स्मारक के प्रवचन मण्डप में प्रवचन करने बैठा हूँ तो मेरी दृष्टि बरबस ही उधर जाती है; जहाँ प्रवचन सुनने के लिए छाबड़ाजी बैठा करते थे। उन जैसा नियमित एवं सतत् जागृत श्रोता मिलना आज दुर्लभ ही है। प्रवचन के पाँच मिनट पहले आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेना और जिनवाणी स्तुति हो जाने के पूर्व कभी सभा छोड़कर नहीं जाना, उनका दैनिक क्रम था।

वे केवल श्रोता ही नहीं एक अच्छे ओजस्वी वक्ता भी थे। जब वे अपनी

जोरदार आवाज में जिनवाणी के सच्चे सपूतों को संबोधित करते तो श्रोता एकदम जागृत हो जाते थे।

वे न केवल मेरी सभा के नियमित श्रोता थे, अपितु मेरे द्वारा लिखी गई कृतियों के प्रथम पाठक भी थे। जब मैं लिखने बैठता तो वे आकर सामने बैठ जाते थे और कहते थे कि बताओ आज क्या लिखा ? मैं उन्हें ताजे लिखे पेज पकड़ा देता और वे उसे पढ़ने लगते। इसप्रकार वे मेरे श्रोता ही नहीं, पाठक भी थे।

वे मेरे कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करनेवाले साथी थे। जब मैं बाहर कहीं प्रवचन करता तो वे मेरे बगल में आसन लगाकर बैठ जाते थे। उनके बैठने से मंच शोभित होता था।

इसमें कोई शक नहीं है कि उनके क्षयोपशमज्ञान में जैनदर्शन का मूल तत्त्व अच्छी तरह पकड़ में आ गया था। वे यह बात अच्छी तरह समझ चुके थे कि एक त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही एकमात्र साध्य है, आराध्य है। जीवन के अन्तिम क्षण तक उसी का चिन्तन-मनन करते-रहते और अत्यन्त जागृत अवस्था में उन्होंने अपने प्राणों का विसर्जन किया। उन्होंने वर्षों से रात्रि में पानी भी नहीं पिया था और अभक्ष्य भक्षण तो उनके जीवन में था ही नहीं।

वे जीवन के अन्तिम क्षण तक यह मंगल कामना करते रहे कि जिसमें उनका जीवन समर्पित था, वह पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट युग-युग तक इसीप्रकार फलता-फूलता रहे, युग-युग तक इसी मार्ग पर चलता रहे; युग-युग तक उसी रीति-नीति को अपनाता रहे, जिस रीति-नीति को आजतक अपनाये रहा और युग-युग तक वीतरागी तत्त्वज्ञान को उसी तरह जन-जन तक पहुँचाता रहे, जिसतरह आज पहुँचा रहा है।

अरे, भाई ! संसार का स्वरूप ही ऐसा है। एक दिन हम सबको भी जाना है; दो चार वर्ष पीछे या दो चार वर्ष आगे - इसमें क्या अन्तर पड़ता है; अतः हम सबको अपना जीवन इतना व्यवस्थित बनाना चाहिए कि हम प्रतिपल जाने को तैयार रहें, यदि मौत अचानक सामने आ जाये तो हमें एक समय भी यह विकल्प नहीं आना चाहिए कि जरा ठहरो ! यह काम निबटा लूँ।

लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे - की भावना से ओतप्रोत जीने और मरने के लिए सदा तैयार रहना ही वास्तविक जीवन है। ●

सम्पादकीय -

नियमसार : एक अनुशीलन

(गातांक से आगे...)

नियमसार गाथा १५१

विगत गाथाओं में आवश्यक रहित अन्तर्बाह्य विकल्पवाले श्रमणों को बहिरात्मा कहा था; अब यहाँ इस गाथा में धर्म और शुक्लध्यान रहित श्रमणों को भी बहिरात्मा कहा जा रहा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा ।

झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

(हरिगीत)

हैं धरम एवं शुक्ल परिणत श्रमण अन्तर आतमा ।

पर ध्यान विरहित श्रमण है बहिरात्मा यह जान लो ॥१५१॥

धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत आत्मा अन्तरात्मा है और ध्यानविहीन श्रमण बहिरात्मा है - ऐसा जानो।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ इस गाथा में स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान व निश्चय शुक्लध्यान - यह दो ध्यान ही उपादेय हैं - ऐसा कहा है।

इस लोक में वस्तुतः साक्षात् अन्तरात्मा तो क्षीणकषाय भगवान ही है। वस्तुतः उन क्षीणकषाय भगवान (बारहवें गुणस्थानवाले) के सोलह कषायों का अभाव होने से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी योद्धाओं के दल विलय को प्राप्त हो गये हैं; अतः वे भगवान क्षीणकषाय सहज चिद्विलास लक्षण अति अपूर्व आत्मा को शुद्ध निश्चय धर्मध्यान और शुद्ध निश्चय शुक्लध्यान द्वारा नित्य ध्याते हैं।

इन दो ध्यानो रहित द्रव्यलिंग धारी द्रव्य श्रमण बहिरात्मा हैं। हे शिष्य तू ऐसा जान।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक जो निर्मलता होती है, वह एक

ही उपाय से होती है। सहज चिद्विलासलक्षणरूप क्रिया ही एकमात्र इसका उपाय है। पुण्य की क्रिया या शरीर की क्रिया इसका उपाय नहीं है। पर में फेरफार करना तो आत्मा का स्वरूप है ही नहीं, परन्तु राग में फेरफार करना भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। अपने सहजस्वरूप में लीन होने पर राग का नाश हो जाता है।

इसप्रकार सम्यक्त्वभाव में ज्ञान का ज्ञानरूप परिणम जाना अर्थात् संवर-निर्जरारूप परिणमना ही धर्मध्यान है।^१

आत्मा के भानपूर्वक ध्यान होता है, जिसको इसकी खबर नहीं है और पुण्य से धर्म मानता है, वह जीव नग्न दिगम्बर मुनि हो तो भी द्रव्यलिंगी है। इसका कारण यह है कि 'अन्तरस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग होता है' - इसकी खबर उसे नहीं है।^२

देखो, यहाँ आचार्यदेव और टीकाकार मुनिराज निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही उपादेय बताने के लिए इन ध्यानो से रहित मुनिराजों को न केवल द्रव्यलिंगी, अपितु बहिरात्मा कह रहे हैं।

आशय यह है कि जिनके निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान बिल्कुल हैं ही नहीं; वे श्रावक और मुनिराज बहिरात्मा हैं; वे नहीं कि जिनके आहार-विहारादि के काल में निश्चय धर्मध्यान व शुक्लध्यान नहीं हैं।^{१५१}॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव जो छन्द लिखते हैं; वह इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्मशुक्ल-

ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ ।

ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं

पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ॥२६०॥

(वीरछन्द)

धरम-शुक्लध्यान समरस में जो वर्ते वे सन्त महान।

उनके चरणकमल की शरणा गहें नित्य हम कर सन्मान ॥

धरम-शुक्ल से रहित तुच्छ मुनि कर न सके आत्मकल्याण।

संसारी बहिरात्म हैं वे उन्हें नहीं निज आत्मज्ञान ॥२६०॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९९-१००

२. वही, पृष्ठ १०१

जो कोई मुनि वस्तुतः निर्मल धर्म व शुक्लध्यानामृतरूप समरस में निरन्तर वर्तते हैं; वे अन्तरात्मा हैं और जो तुच्छ मुनि इन दोनों ध्यानो से रहित हैं; वे बहिरात्मा हैं। मैं उन समरसी अन्तरात्मा मुनिराजों की शरण लेता हूँ।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान में वर्तनेवाले उत्कृष्ट अंतरात्मा मुनिराजों की शरण में जाने की बात कर रहे हैं ॥२६०॥

इसके बाद दूसरा छन्द कहते हैं -

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम् ।

सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः ॥२६१॥

(वीरछन्द)

बहिरात्म-अन्तरात्म के शुद्धात्म में उठें विकल्प।

यह कुबुद्धियों की परिणति है ये मिथ्या संकल्प-विकल्प ॥

ये विकल्प भवरमणी को प्रिय इनका है संसार अनन्त।

ये सुबुद्धियों को न इष्ट हैं, उनका आया भव का अन्त ॥२६१॥

शुद्ध आत्मतत्त्व में 'यह बहिरात्मा है, यह अन्तरात्मा है' - ऐसा विकल्प कुबुद्धियों को होता है। संसाररूपी रमणी (रमण करानेवाली) को प्रिय यह विकल्प, सुबुद्धियों को नहीं होता।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुद्ध आत्मतत्त्व में शरीर-मन-वाणी आदि बाह्यपदार्थों का अत्यन्त अभाव है। फिर भी जो जीव इनसे धर्म मानता है, देव-शास्त्र-गुरु से धर्म मानता है, कुगुरु से कल्याण मानता है, वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है। और जो आत्मा को परिपूर्ण शुद्ध मानता है, उसी के आश्रय से कल्याण मानता है, वह अन्तरात्मा है, मोक्षमार्गी है।

बहिरात्मपना एक समय की उल्टी पर्याय है और अन्तरात्मपना एक समय की सीधी/अविपरीत पर्याय है। 'यह बहिरात्मपना है और यह अन्तरात्मपना है' द्रव्यस्वभाव में ऐसा भेद नहीं होता, वस्तु अभेद है; फिर भी जो उसमें भेद देखता है, वह कुबुद्धि है। तात्पर्य यह है कि अभेद में भेद देखने की कल्पना कुबुद्धियों को ही होती है।^१

जहाँ तक अज्ञानदशा वर्तती है, वहाँ तक मिथ्यादृष्टिपना है और आत्मा का भान करनेवाला चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि है और इसके आगे-आगे शुद्धता बढ़ने पर क्रमशः श्रावकपना व मुनिपना होता है।^२

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३

२. वही, पृष्ठ १०३

सोने की और तांबे की खान पास-पास में हो और कोई सोने का अर्थी तांबे की खान खोदने लग जाय तो मूर्ख ही कहलायेगा। इसीप्रकार दया-दानादि के विकारीभाव करना अथवा अभेद में भेद करना तांबे की खान के समान संसार की खान है और शुद्धचैतन्य त्रिकाली स्वभाव सोने की खान के समान मोक्ष की खान है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग एवं मोक्ष प्रगट होता है।^१

लौकिक बुद्धिजीवी वकील, डॉक्टर आदि को सुबुद्धि नहीं कहा, मात्र शास्त्र पढ़नेवाले को सुबुद्धि नहीं कहा; जो अन्तरात्मा और बहिरात्मा ऐसा भेद करता है, उसे भी सुबुद्धि नहीं कहा; जो एक में दोपने का भेद करता है, उसे भी सुबुद्धि नहीं कहा; परन्तु जो वस्तुस्वभाव को सामान्य एकरूप अभेद-अखण्ड मानता है, द्रव्यस्वभाव में पर्याय का भेद भी नहीं देखता, उसे ही यहाँ सुबुद्धि कहा गया है।^२

देखो, आचार्यदेव अनेक गाथाओं में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का भेद समझाते आ रहे हैं और यहाँ टीकाकार मुनिराज यह कह रहे हैं कि इसप्रकार के विकल्प कुबुद्धियों को होते हैं, सुबुद्धियों को नहीं। तात्पर्य यह है कि इसप्रकार के विकल्प भी हेय ही हैं, उपादेय नहीं; ज्ञानी जीव इन विकल्पों को भी बंध का कारण ही मानते हैं, मुक्ति का कारण नहीं।।२६१॥

नियमसार गाथा १५२

विगत गाथाओं में बहिरात्मा और अन्तरात्मा का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में वीतराग चारित्र में आरूढ संत की बात करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारिंतं ।

तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्टिदो होदि ॥१५२॥

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण आदिक क्रिया निश्चयचरित धारक श्रमण ही।

हैं वीतरागी चरण में आरूढ़ केवलि जिन कहें ॥१५२॥

स्ववश सन्त प्रतिक्रमणादि क्रियारूप निश्चयचारित्र निरन्तर धारण करता है; इसलिए वह श्रमण वीतरागचारित्र में स्थित है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३

२. वही, पृष्ठ १०४

“यहाँ परम वीतराग चारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।

ऐहिक व्यापार अर्थात् सांसारिक कार्य छोड़ दिये हैं जिसने - ऐसा जो मोक्ष का अभिलाषी महामुमुक्षु, सभी इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ देने से निश्चय प्रतिक्रमण आदि सत् क्रियाओं को निरन्तर करता है। इसकारण वह परम तपोधन निजस्वरूप विश्रान्त लक्षण परम वीतराग चारित्र में स्थित है।”

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मोक्ष का निश्चय कारण तो त्रिकाली स्वभाव है और व्यवहार कारण वीतरागी निर्मलपर्याय है। मोक्षमार्गरूप आवश्यक क्रिया का कारण त्रिकाली स्वभाव है।^१

जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के निमित्त से समुद्र उछलता है, उसीप्रकार चैतन्यसुधा से भरे हुए आत्मा में वस्तुस्वभाव की यथार्थ प्रतीतिपूर्वक अवलम्बन लेने पर वीतरागी अमृत और शांति का समुद्र उछलता है। पुण्य-पाप रहित आत्मा का स्वभाव मध्य दरिया के समान है, उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में शांति तथा अनाकुलता उत्पन्न होती है।

इच्छा के अभावरूप अकषायभाव ही तपश्चर्या है। राग की उत्पत्ति न होकर अनाकुल शांति उत्पन्न होना ही तपश्चर्या है।^२

चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव तो मुमुक्षु हैं और मुनिराज महामुमुक्षु हैं। वे संज्वलनकषायजन्य अस्थिरता का भी अभाव करके निरन्तर अपने स्वरूप में स्थिर रहने के लिए सदा तैयार रहते हैं।^३

जिसप्रकार कमल की एक-एक कली सूर्योदय का निमित्त पाकर खिल उठती है; उसीप्रकार जो आत्मा पुण्य-पाप में अटका होने से संकोच को प्राप्त था, वही निजस्वरूप की प्रतीति, ज्ञान और स्थिरता से पर्याय में कमल के फूल की भाँति खिल उठा है अर्थात् उसे परमचारित्रदशा प्रगट हो गई है। ऐसे चारित्रवंत मुनिराज को निजस्वरूप की ही मौज होती है।

परमात्मदशा चारित्र बिना नहीं होती। चारित्र सम्यग्दर्शन बिना नहीं होता, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान बिना नहीं होता और सम्यग्दर्शन सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा बिना नहीं होता। इसलिए परमविश्रान्तस्वरूप आत्मा की पहिचान सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धापूर्वक होती है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५

२. वही, पृष्ठ १०६

३. वही, पृष्ठ १०७

अतः सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु के सत्समागम द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करना चाहिए और निर्णय के पश्चात् चारित्र अंगीकार कर सुखी होना चाहिए।^१”

इस गाथा और उसकी टीका में उत्कृष्ट अन्तरात्मा १२वें गुणस्थान वर्ती पूर्ण वीतरागी महामुमुक्षु मुनिराज का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि उन्होंने समस्त सांसारिक कार्यों को तिलांजलि दे दी है, उनका इन्द्रियों का व्यापार पूर्णतः रुक गया है, निश्चय प्रतिक्रमणादि समस्त आवश्यक क्रियायें विद्यमान हैं। इसप्रकार वे परम तपोधन निज स्वरूप में विश्रांति लक्षणवाले वीतरागचारित्र में पूर्णतः स्थित हैं ॥१५२॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
यः संसारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तेः ।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः ।
तं वंदेऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशांकम् ॥१५२॥

(रोला)

दर्शन अर चारित्र मोह का नाश किया है।
भवसुखकारक कर्म छोड़ संन्यास लिया है॥
मुक्तिमूल मल रहित शील-संयम के धारक।
समरस-अमृतसिन्धु चन्द्र को नमन करूँ मैं ॥१५२॥

नष्ट हो गये हैं दर्शनमोह और चारित्रमोह जिसके - ऐसा अतुल महिमावाला बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा; संसारजनित सुख के कारण भूत कर्म को छोड़कर, मुक्ति के मूल मलरहित चारित्र में स्थित है, चारित्र का पुंज है। समतारसरूपी अमृतसागर को उछालने में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान उस आत्मा को मैं वंदन करता हूँ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“ऐसे मुनिराज पूर्णमासी के चन्द्र समान हैं। जिसप्रकार पूर्णमासी का चन्द्रमा अपनी सोलह कलाओं से खिलता है और समुद्र के पानी को उछालने में कारण होता

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०९-११०

है; उसीप्रकार मुनिराज का अपना आत्मा जो समताभाव का समुद्र है, उनकी पर्याय में आनन्द और शांति को उछालने में वह कारण बनता है। वह अपनी ज्ञानकला से खिल उठता है। टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मैं ऐसे मुनिराज की वंदना करता हूँ।^१”

इस छन्द में भी बारहवें गुणस्थानवाले पूर्ण वीतरागी मुनिराजों की भक्तिभाव पूर्वक वंदना की गई है ॥१५२॥

नियमसार गाथा १५३

विगत गाथा में वीतरागी चारित्र में स्थित मुनिराजों की अनुशंसा करने के उपरान्त अब इस गाथा में वचनमय प्रतिक्रमणादि का निराकरण करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।

आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्जायं ॥१५३॥

(हरिगीत)

वचनमय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान अर आलोचना।

बाचिक नियम अर ये सभी स्वाध्याय के ही रूप हैं ॥१५३॥

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना - ये सब प्रशस्त अध्यात्मरूप शुभभावरूप स्वाध्याय जानो।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह समस्त वचनसंबंधी व्यापार का निराकरण है। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रिया का कारण, निर्यापक आचार्य के मुख से निकला हुआ, समस्त पापों के क्षय का कारण सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत, वचनवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यात्मक होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है।

प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना भी पुद्गलद्रव्यात्मक होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है। वे सब पौद्गलिक वचनमय होने से स्वाध्याय हैं - ऐसा हे शिष्य ! तू जान ।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“प्रतिक्रमण में बोले जानेवाले शब्द तो जड़ हैं, वे आत्मा की क्रिया नहीं हैं और

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११०

उसके साथ होनेवाला शुभभाव पुण्यास्रव है, वह भी आत्मा की आवश्यक क्रिया नहीं है। प्रत्याख्यान में बोले जानेवाले शब्द जड़ हैं और प्रत्याख्यान लेने का भाव शुभ है। नियम अर्थात् चारित्र सम्बन्धी शब्द जड़ हैं और मोक्षमार्ग अंगीकार करने सम्बन्धी नियम लेना शुभराग है। आलोचना में बोले जानेवाले शब्द जड़ हैं और आलोचना का भाव शुभ है। - व्यवहार है। शुभाशुभ रहित आत्मा ज्ञानस्वभावी है - ऐसा भान हो तो शुभभाव को भी व्यवहार कहते हैं। ये समस्त प्रशस्तभाव असत् क्रिया है/आस्रव है - ऐसा तू जान!

इन प्रतिक्रमण आदि समस्त वचन सम्बन्धी शुभभाव का अभाव करके स्वभाव में ठहरना ही कर्तव्य है।^१

प्रथम व्यवहार बताया, सच्चे भावलिङ्गी संतों द्वारा बनाये हुए शास्त्रों की विधि कही। उसके लक्ष्य से शुभराग होता है तथा अशुभ का नाश होता है। जबतक स्वरूप में स्थिर न हो सके, तबतक मुनि को भी सुनने का शुभराग आता है, परन्तु वे शुभराग तथा वाणी को उपादेय नहीं मानते; परन्तु साधकदशा में शुभराग आये बिना नहीं रहता। पाक्षिकादि व्यवहार प्रतिक्रमण शुभराग है, आस्रव है, पुण्यबंध का कारण है और पुण्य का अभाव करके अपने आत्मा में स्थिर होना धर्म है। प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना की व्यवहारविधि भी जड़ है, उसे लेने का भाव शुभ है, पुण्य है, उसमें वाणी निमित्त होती है, परन्तु वह धर्म नहीं है; क्योंकि वे सभी पौद्गलिक वचनमय होने से स्वाध्याय हैं - प्रशस्त शुभभाव हैं - ऐसा हे शिष्य तू जान !^२

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सर्वज्ञदेव की वाणी के अनुसार गणधरदेव द्वारा ग्रथित और भावलिङ्गी संतों द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग श्रुत में कहे गये वचनरूप व्यवहार प्रतिक्रमणादि हेय हैं, बंध के कारण हैं; मुक्ति के कारण नहीं ॥१५३॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदातः समस्तां
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्यः ।
नित्यानंदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ॥२६३॥

(रोला)

मुक्ति सुन्दरी के दोनों अति पुष्ट स्तनों।
के आलिङ्गनजन्य सुखों का अभिलाषी हो ॥

अरे त्यागकर जिनवाणी को अपने में ही।

थित रहकर वह भव्यजीव जग तृणसम निरखे ॥२६३॥

मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट स्तन युगल के आलिङ्गन के सुख की इच्छा वाले भव्यजीव समस्त वचनरचना को सर्वदा छोड़कर, नित्यानन्द आदि अतुल महिमा के धारक निजस्वरूप में स्थित होकर सम्पूर्ण जगतजाल (लोकसमूह) को तृण समान तुच्छ देखते हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मुनिराज महाब्रह्मचारी होते हैं। जंगल में अपने आत्मा का ध्यान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। उन्हें जगत की महिमा नहीं होती। अन्तर-आनन्द में लीन रहते हैं। यह लीनता ही मुक्ति का कारण है। आत्मा की मस्ती में मस्त मुनिराज ने यहाँ जगत की परवाह किये बिना मुक्ति को स्त्री की उपमा दी है।

वे कहते हैं कि हे जीव ! तुझे इस सांसारिक स्त्री से प्रेम है; परन्तु वह तो संसार का कारण है। आत्मा की परिणति रूपी स्त्री जो आत्मद्रव्य से कभी जुदी नहीं होती, अब तू उसके प्रति प्रेम कर! सिद्ध भगवान के लिए सिद्धदशा का कभी विरह नहीं होता। इसलिए तू भी अब उस परिणति को प्रगट कर !

यहाँ सांसारिक स्त्री का मोह छोड़कर मुक्तिरूपी स्त्री को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। जो तेरी स्त्री तुझसे छूट जाय, वह तेरी स्त्री नहीं है। शुभ-अशुभ भाव विकारी भाव हैं, वे भी एक धारावाही नहीं हैं। शुभ के बाद अशुभ होता है।^१”

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुक्ति को स्त्री के रूप में प्रस्तुत करते हुए जिसप्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते हैं; उनसे कुछ रागी गृहस्थों को अनेक तरह के विकल्प खड़े होते हैं। उनके वे विकल्प उनकी ही कमजोरी को व्यक्त करते हैं; क्योंकि मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो पूर्ण ब्रह्मचारी भावलिङ्गी सन्त थे।

कहा जाता है कि महापुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन के प्रति भी लोगों में इसप्रकार के भाव उत्पन्न हुए थे; क्योंकि उन्होंने महापुराण में नारी के वर्णन में शृंगार रस का

विशेष वर्णन किया था।

लोगों के विकल्पों को शान्त करने के लिए उन्होंने खड़े होकर उसी प्रकरण का गहराई से विवेचन किया; फिर भी उनके किसी भी अंग में कोई विकृति दिखाई नहीं दी; तो सभी के इसप्रकार के विकल्प सहज ही शान्त हो गये। अतः उक्त संदर्भ में किसी भी प्रकार के विकल्प खड़े करना समझदारी का काम नहीं है ॥२६३॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज 'तथा चोक्तं - तथा कहा भी है' - ऐसा कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है -

परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा।

शुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्जाउ ॥७२॥^१

(हरिगीत)

परीवर्तन वाँचना अर पृच्छना अनुप्रेक्षा।

स्तुति मंगल पूर्वक यह पंचविध स्वाध्याय है ॥७२॥

पढ़े हुए को दुहरा लेना, वाचना, पृच्छना (पूँछना), अनुप्रेक्षा और धर्मकथा - ऐसे ये पाँच प्रकार का स्तुति व मंगल सहित स्वाध्याय है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“वीतरागी सर्वज्ञ भगवान के शासन में सर्वज्ञकथित श्रुत/शास्त्र को पुनः-पुनः याद करना, बारम्बार घोकना, पढ़े हुए विषय को फिर से याद करना - ये सब शुभ स्वाध्याय है, पुण्य है; धर्म नहीं। शास्त्र का व्याख्यान करना वह भी शुभ है, पुण्य है; धर्म नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र में बारह भावनाओं को संवर कहा है; परन्तु वहाँ संवर कहने का अभिप्राय यह है कि शुद्ध आत्मा के भानपूर्वक जितनी एकाग्रता होती है, उतना संवर है। बाकी जितने अंश में राग वर्तता है, उतना पुण्य है। ६३ शलाका महापुरुषों का चरित्र सुनना अथवा पुराणों का पढ़ना, वह शुभराग है; धर्म नहीं।

इसप्रकार वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश - यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय पुण्यास्रव है, धर्म नहीं।

आत्मा के अवलम्बनपूर्वक जो श्रद्धा तथा वीतरागता प्रगट होती है, वह धर्म है। इसलिए हे भव्य! सर्वप्रथम आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान करना चाहिए।^२”

इस गाथा में जो स्वाध्याय के पाँच भेद गिनाये गये हैं; वे तत्त्वार्थसूत्र में समागत

१. श्रीमूलाचार, पंचाचार अधिकार, गाथा २१९

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ११३

भेदों से कुछ भिन्न दिखाई देते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में स्वाध्याय के पाँच भेद इसप्रकार दिये हैं - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश।^१

यहाँ प्रतिपादित पहला भेद परिवर्तन तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ भेद आमनाय से मिलता-जुलता है। इसीप्रकार यहाँ कहा गया अन्तिम भेद धर्मकथा तत्त्वार्थसूत्र में समागत अन्तिम भेद धर्मोपदेश से मिलता-जुलता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इनमें कोई अन्तर नहीं है ॥७२॥

नियमसार गाथा १५४

विगत छन्द में वचनमय प्रतिक्रमणादि का निषेध किया था और यहाँ कहते हैं कि निश्चय धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमण ही करने योग्य है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जदि सक्कदि काटुं जे पडिकमणादिं करेज्ज ज्ञाणमयं।

सत्तिविहीणो जा जइ सहहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

(हरिगीत)

यदि शक्य हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना चाहिए।

यदि नहीं हो शक्ति तो श्रद्धान ही कर्तव्य है ॥१५४॥

यदि किया जा सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमण ही करो; यदि तू शक्ति विहीन हो तो तबतक श्रद्धान ही कर्तव्य है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ ऐसा कहा है कि शुद्धनिश्चय धर्मध्यानरूप प्रतिक्रमणादि करने योग्य हैं।

सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के ही शिखामणि, परद्रव्य से परांगमुख और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित देहमात्र परिग्रह के धारी, परमागमरूपी मकरंद झरते हुए मुख कमल से शोभायमान हे पद्मप्रभ मुनिशार्दूल! संहनन और शक्ति का प्रादुर्भाव हो तो मुक्तिसुन्दरी के प्रथम दर्शन की भेंटस्वरूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रायश्चित्त, निश्चय प्रत्याख्यान आदि प्रमुख शुद्ध निश्चय क्रियाएँ ही कर्तव्य हैं।

यदि इस हीन दग्धकालरूप अकाल में तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्तव्य है।^२”

(क्रमशः)

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २५